।। दंसण मूलो धम्मो।।

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक पत्र

सम्पादक : रामजी माणेकचन्द दोशी वकील

वर्ष पाँचवाँ — भाद्रपद
अंक पांचवां — २४७५

अमृत-पान करो!

श्री आचार्यदेव कहते हैं कि– हे भव्य जीवो! तुम इस सम्यग्दर्शनरूपी अमृत को पियो। यह सम्यग्दर्शन अनुपम-सुख का भण्डार है, सर्वकल्याण का बीज है और संसार-समुद्र से पार उतरने के लिए जहाज है; एकमात्र भव्यजीव ही इसे प्राप्त कर सकते हैं। पापरूपी वृक्ष को काटने के लिए यह कुल्हाड़ी के समान है, पवित्र तीर्थों में यही एक प्रधान तीर्थ है और मिथ्यात्व का नाशक है।

(ज्ञानार्णव, अध्याय ६ गाथा ५९)

एक अंक
चार आना

५३

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

अनेकान्त मुद्रणालय : मोटा आंकड़िया

इस अंक के लेख

१- ज्ञान की स्वाधीनता और निमित्त का अकिंचित्करपना
२- द्रव्यदृष्टि के अपूर्व पुरुषार्थ बिना क्रमबद्धपर्याय की अथवा केवलज्ञान की प्रतीति नहीं होती।
३- शरीर में रोग हो, तब आत्मा को क्या करना चाहिए?
४- अपूर्व भेदज्ञान के लिए अमृत का इन्जेक्शन
५- आस्तिक और नास्तिक का स्वरूप
६- तीर्थंङ्करों के पथ पर

सम्यग्दृष्टि की संसारमुक्ति

जिसने पूर्व में आयुष्य न बाँधा हो– ऐसा अविरत सम्यग्दृष्टि भी वैमानिक देव अथवा उत्तम मनुष्यकुल में ही जन्म लेता है, इसके अतिरिक्त वह अन्यत्र जन्म नहीं लेता; इससे वह उत्तम देवपना और उत्तम मनुष्यपना– इन दोनों को छोड़कर शेष समस्त संसार के क्लेश से मुक्त है। इसलिए संसार के दुःखों से भयभीत भव्य जीवों को सम्यग्दर्शन की आराधना में सदैव तत्पर रहना चाहिए। [सागरधर्मामृत पृ. २६]

प्रश्न :– सम्यग्दृष्टि सदैव मुक्त क्यों है?

उत्तर :– क्योंकि उसके सदैव अपने मुक्तस्वरूप का ही आश्रय है, इसलिए वह मुक्त ही है।

भाद्रपद
२४७५

आत्मधर्म

वर्ष पाँचवाँ
अंक-५

ज्ञान की स्वाधीनता और निमित्त का अकिंचित्करपना

[समयसार गाथा ३९० से ४०४ के प्रवचनों से]

(१) दिव्यध्वनि में निमित्तपने का आरोप

श्री सर्वज्ञदेव को पूर्णज्ञान हो गया है, और उनकी वाणी में भी प्रत्येक समय में पूर्ण रहस्य आता है। परन्तु उपस्थित जीव अपने ज्ञान की योग्यता से जितना समझें, उतना उन्हें निमित्त कहा जाता है। कोठे जीव बारह अंग समझे तो उसके लिए बारह अंगों के समझने में वह वाणी निमित्त कहलाती है। कोई जीव करणानुयोग का ज्ञान करे तो उस समय उसे करणानुयोग के ज्ञान में वह वाणी निमित्त कही जाती है। और उसी समय दूसरा जीव द्रव्यानुयोग का ज्ञान करता हो तो उसको वह वाणी द्रव्यानुयोग के ज्ञान में निमित्त कहलाती है। इसमें ज्ञान की स्वाधीनता सिद्ध होती है। जो जीव अपने अन्तरस्वभाव के आधार से जितना श्रद्धा-ज्ञान का विकास करे, उतना ही दिव्यध्वनि में निमित्तपने का आरोप आता है; इसलिए यहाँ आचार्य भगवान कहते हैं कि ज्ञान और द्रव्यश्रुत पृथक् हैं।

वाणी और शास्त्र तो अजीव हैं; अजीव के आधार से कभी ज्ञान नहीं होता। यदि वाणी का श्रवण करने के कारण ज्ञान होता हो तो अजीव वाणी कर्ता बने और ज्ञान उसका कार्य सिद्ध हो; परन्तु अजीव का कार्य तो अजीव ही होता है, अर्थात् ज्ञान स्वतः अजीव सिद्ध हुआ। जो जीव परवस्तु के आधार से अपना ज्ञान मानता है, उसका ज्ञान मिथ्या है। उसे यहाँ अचेतन कहा है। श्रुत के शब्द जड़ हैं, वे आत्मा के ज्ञान में अकिंचित्कर हैं; उस द्रव्यश्रुत के अवलम्बन से आत्मा को किंचित् भी ज्ञान या धर्म नहीं होता।

(२) जो आत्मा में अभेद हो, वही यथार्थज्ञान है

शास्त्र और वाणी तो जड़ हैं, वह तो ज्ञान नहीं ही है; किन्तु मन्द-कषाय को लेकर मात्र शास्त्र के लक्ष्य से होनेवाला ज्ञान का विकास भी यथार्थ ज्ञान नहीं है। जिनेन्द्र भगवान का कहा हुआ द्रव्य-गुण-पर्याय, निश्चय-व्यवहार, उपादान-निमित्त, नवतत्त्व आदि सम्बन्धी ज्ञान का विकास मात्र शास्त्रों के लक्ष्य से हो, और स्वभाव का लक्ष्य न करे तो उस ज्ञान के विकास को भी द्रव्यश्रुत में गिनकर अचेतन कहा है। शास्त्र इत्यादि परद्रव्य और उनके लक्ष्य से होनेवाली मन्दकषाय तथा उसके लक्ष्य से कार्य करता हुआ वर्तमान जितना ज्ञान का विकास-उन सबका आश्रय छोड़कर उनके साथ की एकता छोड़कर त्रैकालिक आत्मस्वभाव का आश्रय करके जो ज्ञान आत्मा में अभेद हो, वही यथार्थ ज्ञान है।

(३) ऐसा क्यों कहा कि 'संतों की वाणी जयवन्त हो?'

प्रश्न :– यदि वाणी से – श्रुत से ज्ञान नहीं होता तो फिर 'तीर्थंकरों की–सन्तों की वाणी जयवन्त प्रवर्तमान रहे, श्रुत जयवन्त हो' – ऐसा किसलिए कहा जाता है?

उत्तर :– वाणी से ज्ञान नहीं होता, स्वभाव के ओर की एकाग्रता से ज्ञान प्रगट होता है। सम्यग्ज्ञान होने के पश्चात् जीव ऐसा जानता है कि पहले वाणी की ओर लक्ष्य था, अर्थात् सम्यग्ज्ञान होने में वाणी निमित्तरूप है। वास्तव में तो अपने आत्मा में जो भेदज्ञान प्रगट हुआ है, वह भावश्रुत जयवन्त हों – ऐसा भावना है; और शुभ विकल्प के समय भेदज्ञान के निमित्तरूप वाणी में आरोप करके कहते हैं कि 'श्रुत जयवन्त हो, भगवान की और सन्तों की वाणी जयवन्त हो' परन्तु उस समय भी अन्तर में बराबर भान है कि वाणी इत्यादि परद्रव्य से अथवा उनकी ओर के लक्ष्य से मेरे आत्मा को किंचित् लाभ नहीं होता।

(४) वाणी के कारण ज्ञान नहीं होता और ज्ञान के कारण वाणी नहीं होती

आत्मा के ज्ञान में वाणी का अभाव है, और वाणी में ज्ञान का अभाव है। यदि वाणी से ज्ञान होता हो तो वाणी कर्ता और ज्ञान उसका कर्म, इस प्रकार एक दूसरे के कर्ता–कर्मपना हो जाता है; इसलिए वह मान्यता मिथ्या है। उसी प्रकार आत्मा में सच्चा समझनेरूप योग्यता हो, उस समय उस योग्यता के कारण वाणी निकलना ही चाहिए – यह मान्यता भी यथार्थ नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो ज्ञान कर्ता सिद्ध और अचेतन वाणी उसका कार्य सिद्ध हो।

श्री महावीर भगवान को केवलज्ञान हुआ, इन्द्रों ने समवशरण की रचना की, परन्तु छियासठ दिन तक भगवान की दिव्यध्वनि नहीं खिरी। श्रावण कृष्णा एकम् के दिन गौतम-स्वामी

आये और वाणी खिरी; परन्तु वहाँ गौतम स्वामी आये, इसलिए वाणी खिरी –ऐसा नहीं है, और वाणी खिरना थी, इसलिए गौतम-स्वामी आये, ऐसा भी नहीं है। वाणी और गौतमस्वामी – दोनों की क्रियाएँ स्वतन्त्र हैं। भगवान की वाणी छूटी, इसलिए गौतमस्वामी को ज्ञान हुआ, ऐसा भी वास्तव में नहीं है। वाणी अचेतन है, उससे ज्ञान नहीं होता, और गौतमस्वामी आदि जीवों के ज्ञान में समझने की योग्यता हुई, इसलिए भगवान की वाणी परिणमित हुई – ऐसा भी नहीं है। अचेतन परमाणु को ऐसी खबर नहीं है कि सम्मुख पात्र जीव आया है, इसलिए मैं परिणमित होऊँ। वैसे ही भगवान कही वाणी के कर्ता नहीं है; वाणी तो उसके अपने कारण से परिणमित होती है, और जो जीव अपने आत्मस्वभाव को समझने की योग्यतवाला होता है, वही जीव अन्तरपुरुषार्थ द्वारा अपने स्वभाव के सन्मुख होकर समझता है। उसका ज्ञान अपने ज्ञानस्वभाव के आधार से परिणमित होता है। अपने स्वभाव के सम्मुख होकर जानना-देखना और आनन्द का अनुभव करना, वह आत्मा का स्वरूप है; परसन्मुख होकर जाने, ऐसा आत्मा का स्वरूप नहीं है।

(५) केवलज्ञान, कम्पन और वाणी -तीनों की स्वतन्त्रता

आत्मस्वभाव में सम्पूर्ण स्थिर होने से महावीर भगवान को केवलज्ञान प्रगट हुआ; वहाँ घातिकर्मों का स्वयं परमाणु की योग्यता से नाश हुआ। भगवान के अभी चार अघातिकर्म संयोगरूप थे और आत्मा में योग का कम्पन था; उसके निमित्त से दिव्यध्वनि खिरती थी। वहाँ केवलज्ञान या कम्पन के कारण वाणी परिणमित नहीं होती; क्योंकि तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान और कम्पन तो निरन्तर है; इससे यदि उसके कारण से वाणी परिणमित होती हो तो वह निरन्तर होना चाहिए, किन्तु वाणी तो अमुक समय ही होती है, क्योंकि उसका परिणमन स्वतन्त्र है। पुनश्च, दिव्यध्वनि खिरना है, इसलिए भगवान के योग का कम्पन है – ऐसा भी नहीं है। कम्पन तो जीव के योगगुण की अशुद्धदशा है और वाणी तो जड़ की दशा है। दोनों अपने-अपने कारण से स्वतन्त्र होते हैं।

भगवान को केवलज्ञान और कम्पन है, इसलिए वाणी खिरती है –ऐसा नहीं है। वाणी खिरती है, इसलिए केवलज्ञान और कम्पन स्थिर हैं – ऐसा भी नहीं है। कंपन के कारण केवलज्ञान स्थिर नहीं रहता और न केवलज्ञान के कारण कंपन; किन्तु केवलज्ञान, वाणी और कंपन-तीनों स्वतन्त्र हैं।

(६) भगवान की वाणी और गौतम का ज्ञान-दोनों एक ही समय में हुए, तथापि एक दूसरे के कारण नहीं

अब, भगवान की वाणी छूटती है, उस वाणी के कारण दूसरे जीवों को ज्ञान नहीं होता।

दूसरे जीवों को ज्ञान होना है, इसलिए वाणी खिरती है – ऐसा भी नहीं है। भगवान महावीर की वाणी खिरी, तब वह परमाणुओं की योग्यता से खिरी है और गौतम स्वामी को जो ज्ञान प्रगट हुआ, वह उनके आत्मा की योग्यता से हुआ है। वे दोनों कार्य एक ही समय में हुए, उससे कहीं एक दूसरे के कर्ता नहीं हैं; वाणीरूप पर्याय में पुद्गलपरमाणु प्रवेश कर गये हैं, इससे वाणी उस पुद्गल का कार्य है। कहीं गौतम प्रभु वाणी पर्याय में प्रविष्ट नहीं हो गये हैं; उसी प्रकार गौतमस्वामी की ज्ञान पर्याय में उनका आत्मा ही प्रविष्ट हुआ है, कहीं वाणी उस ज्ञान में प्रवेश नहीं कर गई है, इसलिए वाणी के कारण ज्ञान नहीं हुआ है; और गौतमस्वामी के कारण भगवान की वाणी नहीं हुई है। इस जगत में अनन्त पदार्थों के भिन्न-भिन्न कार्य एक समय में एकसाथ होते हैं, उससे कोई पदार्थ किन्हीं अन्य पदार्थों का कर्ता नहीं है। एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का कुछ करे – ऐसा वस्तुस्वभाव ही नहीं है।

(७) वाणी के आश्रय से राग की उत्पत्ति है, और स्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति है।

द्रव्यश्रुत अर्थात् भगवान की वाणी अचेतन है, उसके लक्ष्य से राग की उत्पत्ति होती है; वाणी के लक्ष्य से धर्म की उत्पत्ति नहीं होती किन्तु आस्रव की उत्पत्ति होती है; वाणी के लक्ष्य से जो ज्ञान होता है, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। ज्ञानस्वभाव के साथ अभेद होकर जो ज्ञान परिणमित हो, वह आत्मस्वभाव है। भगवान की वाणी के लक्ष्य से पुण्यभाव होता है, वह भी अचेतन है, वह धर्म का या सम्यग्ज्ञान का कारण नहीं है। आत्मा स्वतः चेतन है, उसका अवलम्बन छोड़कर यदि अचेतन वाणी के अवलम्बनरूप परिणमित हो तो आस्रवभाव है; उस समय जो शुभभाव होता है, उससे चारों घातिकर्म भी बँधते हैं और घातिकर्म, पापरूप ही हैं, इस प्रकार द्रव्यश्रुत के लक्ष्य से पुण्य-पापरूप आस्रव होता है। इससे जड़ के आश्रय से जो ज्ञान होता है, वह भी अचेतन है, क्योंकि वह ज्ञान चैतन्य के विकास को रोकनेवाला है। चेतनरूप ज्ञानस्वभाव के आश्रय से सम्यग्ज्ञान होता है और संवर-निर्जरारूप निर्मलभाव की उत्पत्ति होकर आस्रव का नाश होता है। ऐसा जो जीव जानता है, वह अपने ज्ञानस्वभाव के स्वामित्वरूप ही परिणमित होता है; अपने को अचेतन वस्तु का कर्ता या स्वामी नहीं मानता और अचेतन के आश्रय से होनेवाले ज्ञान जितना ही अपने को नहीं मानता। जो रुपये की थैली में हाथ डालेगा, उसे रुपये मिलेंगे और जो चिरायते के थैले में हाथ डालेगा, उसे चिरायता मिलेगा। इस दृष्टान्त से इतना समझना कि – जो अचेतन वाणी की रुचि और विश्वास करे, उसे उसकी वर्तमान दशा में रागादि और अज्ञान की ही प्राप्ति होगी, और ज्ञानादि अनन्त गुणों के भण्डाररूप अपने स्वभाव की रुचि

और विश्वास करे तो, उसे अपनी पर्याय में भी सम्यग्ज्ञान और शांति की प्राप्ति होती है। इसलिए जिसे अपने आत्मा में सम्यग्दर्शन, शांति, सुख आदि प्रगट करना हों, उसे कहीं बाह्य में न देखकर अनन्तगुणस्वरूप अपने आत्मस्वभाव में देखना चाहिए। आत्मस्वभाव की ओर उन्मुख होने से सम्यग्दर्शन– ज्ञानादि प्रगट होते हैं। और उसके अतिरिक्त वाणी–शास्त्रादि बाह्य वस्तुओं के लक्ष्य से चिरायते जैसे आस्रव और बंधभाव होते हैं।

(८) आत्मस्वभाव का आश्रय करना, वह प्रयोजन है

आत्मस्वभाव के समझने में, समझने से पूर्व और समझने के पश्चात् भी सत्श्रुत निमित्तरूप होता है, उसका यहाँ निषेध नहीं है। किन्तु यदि निमित्तों का आश्रय छोड़कर अपने स्वभाव का आश्रय करे, तभी जीव को सम्यग्दर्शन होता है, और इस प्रकार स्वाश्रय से सम्यग्ज्ञान प्रगट करे, तभी श्रुत को उसका यथार्थ निमित्त कहा जाता है और उसके द्रव्यश्रुत के ज्ञान को व्यवहारज्ञान कहा जाता है। इस प्रकार यहाँ निमित्त – व्यवहार का आश्रय छोड़कर स्वभाव का आश्रय करना ही प्रयोजन है, वही धर्म का मार्ग है।

(९) ज्ञानी सारे दिन क्या करते हैं?

प्रश्न :– यदि श्रुत-शास्त्र, ज्ञान क कारण नहीं हैं, तो ज्ञानी दिन-भर समयसार-प्रवचनसार आदि-शास्त्र हाथों में लेकर क्यों पढ़ते हैं?

उत्तर :– प्रथम तो यह समझो कि आत्मा क्या है? ज्ञान क्या है? शास्त्र क्या है?और हाथ क्या है? हाथ और शास्त्र तो दोनों अचेतन हैं, आत्मा से पृथक् हैं, उनकी क्रिया तो कोई आत्मा करता नहीं है; ज्ञानी को स्वाध्यायादि का विकल्प हुआ और उस समय ज्ञान में उस प्रकार के ज्ञेयों को ही जानने की योग्यता थी, इसमें ज्ञान होता है तथा उस समय निमित्तरूप समयसारादि शास्त्र उनके अपने कारण से स्वतः होते हैं; वहाँ ज्ञानी ने तो आत्मस्वभाव के आश्रय से ज्ञान ही किया है। हाथ की, शास्त्र की अथवा राग की क्रिया भी उसने नहीं की है। शास्त्र के कारण ज्ञान नहीं होता और जीव के विकल्प के कारण शास्त्र नहीं आया। ज्ञान का कारण तो अपना ज्ञानस्वभाव होता है या अचेतन वस्तु? जिसे अपने ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा नहीं है और अचेतन श्रुत के कारण अपना ज्ञान मानता है, उसे सम्यग्ज्ञान नहीं होता। यह भगवान आत्म स्वतः ज्ञानस्वरूप है। सर्वज्ञ वीतरागदेव की साक्षात् वाणी ज्ञान का असाधारण–सर्वोत्कृष्ट निमित्त है, वह अचेतन है, उसके आश्रय से – कारण से भी आत्मा को किंचित् ज्ञान नहीं होता; तो फिर अन्य निमित्तों की तो बात ही क्या है।

(१०) भेदज्ञान के बिना आगे नहीं बड़ा जा सकता

कोई यह कहे कि पहले तो वाणी इत्यादि निमित्तों के लक्ष्य से आत्मा आगे बढ़ता है न? तो उससे कहते हैं कि – भाई! वाणी के लक्ष्य से अधिक होगा तो पापभाव दूर होकर पुण्यभाव होंगे, किन्तु वह कहीं आगे बढ़ा नहीं कहलायेगा। क्योंकि शुभभावों तक तो जीव अनन्तबार आ चुका है। शुभ-अशुभ से आत्मा का भेदज्ञान करके स्वभाव में आये, तभी आगे बढ़ा कहलायेगा। निमित्त के लक्ष्य से कभी भी भेदज्ञान नहीं होता; अपने ज्ञानस्वभाव के लक्ष्य से प्रारम्भ करे, तभी आगे बढ़े और भेदज्ञान प्रगट होकर पूर्णता हो।

(११) यदि वाणी से ज्ञान नहीं होता तो जिज्ञासु लोग व्याख्यानादि सुनने क्यों आते हैं?

प्रश्न :– यदि आत्मा में ही पूर्ण ज्ञानसामर्थ्य भरा है और वाणी से ज्ञान नहीं होता तो यह सब जिज्ञासु यहाँ सुनने क्यों आते हैं? स्वतः में भरा हुआ है, उसमें से क्यों नहीं निकालते?

उत्तर :– यहाँ सुनने आते हैं, इसका क्या अर्थ? उसमें आत्मा क्या करता है? जड़ शरीर को आत्मा कहीं उठा नहीं लाया है; शरीर का क्षेत्रान्तर उसके कारण से हुआ है और आत्मा का क्षेत्रान्तर आत्मा के कारण हुआ है। जिज्ञासु जीवों को सत्श्रवण की इच्छा होती है, वह शुभराग है; उस राग से या सुनने से ज्ञान नहीं होता; उसी प्रकार सत्श्रवण की इच्छा हुई, इसलिए आत्मा का क्षेत्रान्तर हुआ – ऐसा भी नहीं है; क्योंकि इच्छा, चारित्र का विकार है और क्षेत्रान्तर, क्रियावतीशक्ति की अवस्था है– दोनों पृथक्-पृथक् गुणों के कार्य हैं। एक गुण की पर्याय दूसरे में कुछ नहीं करती, तो फिर आत्मा, परवस्तु में क्या करेगा? श्रवण के समय भी शब्दों के कारण ज्ञान नहीं होता, किन्तु ज्ञान की उस समय की पर्याय की वैसी ही योग्यता है, इससे उस समय वैसे ही निमित्तरूप शब्द सामने स्वतः होते हैं, वहाँ अज्ञानी को ऐसा लगता है कि शब्दों के कारण ज्ञान हुआ है; परन्तु वैसा नहीं है। आत्मा की प्रतीति तो अन्तरस्वभाव के आश्रयरूप पुरुषार्थ से ही होती है। जिज्ञासु जीवों को कुगुरु का संग छोड़कर, सत्पुरुष की वाणी श्रवण करने का भाव आता है, किन्तु 'मेरा ज्ञान, वाणी के कारण नहीं है, वाणी के लक्ष्य से भी मेरा ज्ञान नहीं है; अन्तरंग ज्ञानस्वभाव में से ही मेरा ज्ञान आता है'– ऐसा निश्चित करके यदि स्वभाव की ओर उन्मुख हो, तभी सम्यग्ज्ञान होता है। वाणी के लक्ष्य से सम्यग्ज्ञान नहीं होता। इस प्रकार सत् का श्रवण करनेवाले जीव का ज्ञान स्वतन्त्र है, इच्छा स्वतन्त्र है, क्षेत्रान्तर स्वतन्त्र है, शरीर की क्रिया स्वतन्त्र है और सामनेवाले की वाणी भी स्वतन्त्र है।

द्रव्यदृष्टि के अपूर्व पुरुषार्थ बिना क्रमबद्धपर्याय की अथवा केवलज्ञान की प्रतीति नहीं होती

[समयसार गाथा ३९० से ४०४ के प्रवचनों से]

ज्ञान चेतन है और वाणी जड़ का परिणमन है; ज्ञान और वाणी दोनों अपनी-अपनी पर्याय में स्वतंत्ररूप से क्रमबद्ध परिणमित होते हैं।

प्रश्न :– यदि प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध होती है तो रागादिभाव होते हैं, वे भी क्रमबद्ध होते हैं न? तो उन्हें दूर करने का पुरुषार्थ नहीं रहता।

उत्तर :– जिसे क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा हुई हो, उसे ऐसा प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि द्रव्यदृष्टि के बल से हो अनादि-अनन्त क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा होती है, द्रव्यदृष्टि हुए बिना क्रमबद्धपर्याय की यथार्थ श्रद्धा नहीं होती और द्रव्यदृष्टि होने से जीव, राग को अपना स्वरूप नहीं मानता, क्योंकि त्रैकालिक द्रव्य में राग नहीं है, इससे वह जीव वास्तव में राग का ज्ञाता ही रहता है – अर्थात् परमार्थतः उसे राग नहीं होता किन्तु राग दूर ही होता है। मेरी और जगत के समस्त जीवों की अवस्था क्रमबद्ध होती है, ऐसा निश्चित् करनेवाला जीव एक-एक पर्याय को नहीं देखता, किन्तु द्रव्य के त्रैकालिक स्वरूप को देखता है। ऐसा जीव, राग की योग्यता को नहीं देखता क्योंकि त्रिकाली स्वभाव में राग की योग्यता नहीं है; इससे त्रिकाली स्वभाव में एकता के बल से उसके राग दूर ही होता जाता है।

ऐसे त्रैकालिक स्वभाव की दृष्टि करने में रागरहित श्रद्धा-ज्ञान का अनन्त पुरुषार्थ कार्य कर रहा है। क्रमबद्धपर्याय का विश्वास करने तो पर का, विकार का और पर्याय का आश्रय छूटकर मात्र अभेद स्वभाव का ही आश्रय रहता है, उस स्वभाव में से राग की उत्पत्ति होती ही नहीं है, इससे क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धावाले सम्यग्दृष्टि को क्रमशः स्वभाव की एकता ही होती जाती है और राग दूर होता रहता है। स्वभावदृष्टि के कारण उसके स्वभाव की उत्पत्ति का क्रम है, और राग को दूर करने का क्रम है। तब फिर ''राग होना होगा तो होगा'' यह बात कहाँ रही? राग के ऊपर ही जिसकी दृष्टि है, उसे तो राग और आत्मा के भेद का विचार ही नहीं है, उसे तो राग ही आत्मा है, इससे उसके राग की ही उत्पत्ति होती है, किन्तु जिसकी रागरहित चैतन्यस्वभाव पर दृष्टि है और राग का निषेध है, उसके तो स्वभाव की निर्मलता की ही उत्पत्ति होती है और राग नष्ट होता

जाता है। सम्यग्दृष्टि के चारित्र की निर्बलता से जो अल्प राग होता है, वह वास्तव में उत्पत्तिरूप नहीं है, किन्तु टालने के लिए ही है; क्योंकि जब राग होता है, उस समय भी राग का नहीं किन्तु द्रव्य का ही आश्रय है।

स्व और पर समस्त पदार्थ क्रमबद्धपर्याय में परिणमित होते हैं– ऐसा निश्चित् करते ही, ज्ञान का क्रम ज्ञान से और वाणी का क्रम जड़ से – इस प्रकार दोनों का भेदज्ञान होकर ज्ञान अपने स्वभाव में उन्मुख होता है। स्वभावोन्मुख हुए बिना क्रमबद्धपर्याय का निर्णय नहीं हो सकता। जिस प्रकार स्वद्रव्य की ओर उन्मुख हुए बिना स्व–पर की क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय नहीं हो सकता, वैसे ही स्वद्रव्य के निर्णय बिना केवली भगवान का निर्णय भी यथार्थरूप से नहीं हो सकता। स्वतः राग से अंशतः पृथक् हुए बिना केवलज्ञान का निर्णय कहाँ से कर सकेगा? राग और ज्ञान के बीच का भेदज्ञान हुए बिना परमार्थ से केवलज्ञान की प्रतीति नहीं होती। इससे ऐसा बतलाया कि स्वद्रव्य के स्वभाव के निर्णय से ही धर्म होता है। केवली भगवान का निर्णय करने में भी परमार्थ से तो अपने आत्मद्रव्य के निर्णय का ही पुरुषार्थ है। आत्म-निर्णय के पुरुषार्थ के बिना केवली भगवान के वचनों की भी यथार्थ प्रतीति नहीं कहलाती।

शरीर में रोग तो तब आत्मा को क्या करना चाहिए?

[समयसार गाथा ३९० से ४०४ के व्याख्यानों से]

प्रश्न :– आत्मा चैतन्यस्वरूप है और शरीर से पृथक् है, यह बात तो हम मानते हैं, परन्तु शरीर में जब रोग हो, तब हमें उसकी दवा तो करना चाहिए न?

उत्तर :– आत्मा, शरीर से भिन्न है, और शरीरादि परद्रव्यों का कुछ भी नहीं कर सकता– ऐसा वस्तुस्वरूप समझ में आया हो, तो उपरोक्त प्रश्न उठने का अवकाश ही नहीं रहता। ''आत्मा शरीर से पृथक् नहीं किन्तु शरीर का कर्ता है''– ऐसी जिसकी अज्ञानबुद्धि है, उसे ही उपरोक्त प्रश्न उठता है। 'दवा करना या न करना'– ऐसा प्रश्न कब उठता है? यदि दवा की क्रिया आत्मा के अधीन हो, तब यह प्रश्न उठता है। जो कार्य करने में स्वतः समर्थ नहीं है, उसके सम्बन्ध में 'मुझे यह करना चाहिए या नहीं' – ऐसा प्रश्न ही नहीं होता। शरीर की अथवा दवा लाने की क्रिया आत्मा कर ही नहीं सकता। आत्मा तो स्व–पर का ज्ञान करता है और अधिक तो अपने में राग-द्वेष-मोह भाव करता है। जिसे शरीर के ऊपर राग हो, ऐसे जीव को दवा करने का विकल्प होता है, परन्तु यदि दवा आना हो तो स्वतः उसके अपने कारण से आती है। आत्मा पर में एक रंचमात्र परिवर्तन नहीं कर सकता। यहाँ तो आचार्यदेव यह बात समझाते हैं कि – जो रागभाव होता है, उसे करना भी आत्मा का कार्य नहीं है, और स्वतः को भूलकर पर को जानने में रुके, ऐसा ज्ञान भी आत्मा का स्वरूप नहीं है। आत्मा के स्वभाव की ओर उन्मुख होकर जाने, वह ज्ञान आत्मा का स्वरूप है। जड़ शरीर की और दवा करने की बात तो अलग रही। जड़ की अवस्थाएँ प्रतिक्षण जैसी होना हों, वैसी जड़ के स्वभाव से होती ही रहती हैं; अज्ञानी जीव अपने ज्ञातास्वभाव को भूलकर उसका अभिमान करता है; ज्ञानी जीव उससे पृथक्त्व को जानकर अपने ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख होता है और राग का एवं पर का ज्ञाता रहता है।

दवा को, शरीर को, राग को और आत्म को– सभी को एकमेक माने, उस जीव को ऐसा प्रश्न होता है कि – शरीर में रोग हो, तब मुझे दवा करना चाहिए या नहीं? किन्तु भाई! विचार तो कर कि तू अर्थात् कौन? और दवा करना अर्थात् क्या? तू अर्थात् ज्ञान और दवा अर्थात् अनन्त जड़ रजकण। क्या तेरा ज्ञान जड़ रजकणों की क्रिया करता है? 'खरगोश के सींग काटना चाहिए या नहीं? ऐसा प्रश्न ही कब हो सकता है? यदि खरगोश के सींग हों, तब यह प्रश्न उठ सकता है; किन्तु खरगोश के सींग ही नहीं हैं तो फिर उन्हें काटने और न काटने का सवाल ही नहीं उठता।

वैसे ही, यदि आत्मा, परवस्तु का कुछ कर सकता हो, तब यह प्रश्न उठे कि 'मुझे करना चाहिए या नहीं' तो वह प्रश्न ठीक है। किन्तु आत्मा, पर का कुछ कर ही नहीं सकता तो फिर 'मैं पर का करूँ' अथवा 'न करूँ' यह दोनों मान्यताएँ मिथ्यात्व है।

सत्य की समझ वीतरागता का कारण है।

'आत्मा ज्ञानस्वरूप है, पर क कुछ नहीं कर सकता, जड़ की क्रियायें अपने आप जैसी होना होती हैं, वैस होती हैं'– ऐसा समझकर अपने ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख होना और पर से उदासीन होने का प्रयोजन है। परन्तु स्वच्छन्दता का सेवन करके विषयकषायों की पुष्टि करने की यह बात नहीं है। यह तो ऐसी अपूर्व बात है कि यदि यथार्थ समझे तो वीतरागता हो जाये। प्रथम, श्रद्धा में वीतरागता हो और पश्चात्, चारित्र में वीतरागत हो जाये। कोई जीव स्वच्छन्दी होकर विषय-कषायों की पुष्टि करे तो वह सत्य को समझने का फल नहीं है; किन्तु वह जीव सत्य को नहीं समझा है, इससे उसके न समझने का ही वह फल है; इसमें सत्य का किंचित् दोष नहीं है। सत्स्वभाव समझे और विषय-कषायों में वृद्धि हो– ऐसा कभी नहीं हो सकता, क्योंकि सत्स्वभाव की समझ तो वीतरागता का ही कारण है।

अपूर्व भेदज्ञान के लिए अमृत का इन्जेक्शन

[समयसार गाथा ३९० से ४०४ के प्रवचनों से]

अहा! आचार्यदेव ने ज्ञानस्वभाव की अपूर्व बात की है। वाणी अचेतन है, उसके आधार से ज्ञान नहीं है; ज्ञानस्वभाव के आधार से ही ज्ञान होता है। अहो! यह भेद-विज्ञान की परम सत्य बात है, आत्मकल्याण का मार्ग है। परन्तु जिन्हें अपने कल्याण की चिन्ता नहीं है– ऐसे तुच्छबुद्धि जीवों को यह बात नहीं रुचती, अर्थात् वास्तव में अपना ज्ञानस्वभाव ही नहीं रुचता और

विकारभावों की रुचि है, इससे ऐसी अपूर्व आत्मस्वभाव की बात कान में पड़ते ही ऐसे जीव पुकार करते हैं कि 'अरे! आत्मा, पर का कुछ नहीं करता–ऐसा कहना तो विष का इन्जेक्शन देने जैसा हो!' क्या किया जाये? भेदज्ञान की यह परम अमृत जैसी बात भी उन्हें विष के समान लगती है। यह उनकी पर्याय का परिणमन भी स्वतन्त्र है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, वह विकार का और पर का अकर्ता है – ऐसी भेदज्ञान की बात तो, अनादिकाल से जो मिथ्यात्वरूपी विष चढ़ा हुआ है, उसे उतारने के लिए परम अमृत के इन्जेक्शन जैसी है। यदि आत्मा एकबार भी इन इन्जेक्शन को ले तो उसके जन्म–मरण का रोग नाश होकर सिद्धदशा हुए बिना न रहे। आत्मा और विश्व का प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र है, परिपूर्ण है, निरावलम्ब है – ऐसा सम्यग्क्बोध तो परमामृत है। ऐसा परमामृत भी जिन जीवों को 'विष के इन्जेक्शन' जैसा लगता है, उन जीवों को उनके मिथ्यात्वभाव का बल ही वैसा पुकार रहा है। यह तो निजकल्याण करने के लिए और मिथ्यात्वरूपी विष दूर करने के लिए अचूक अमृत का इन्जेक्शन है। अपने परिपूर्ण स्वभाव का विश्वास करे तो सम्यग्दर्शन प्रगट हो अर्थात् धर्म का सर्वप्रथम प्रारम्भ हो; और उसका विश्वास न करके वाणी का या राग का ही विश्वास करे तो जीव को मिथ्यात्वरूप अधर्म ही होता है।

आचार्यदेव कहते हैं कि वाणी के आश्रय से तेरा ज्ञान प्रगट नहीं होगा। राग की भूमिका में वाणी की ओर लक्ष्य जाता अवश्य है, परन्तु यदि वाणी का अवलम्बन मानकर अटके तो मिथ्याज्ञान है। वाणी के अवलम्बन से रहित पूर्ण ज्ञानस्वभाव के आश्रय से ही सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है। ज्ञान और वाणी पृथक् हैं; ज्ञान में से वाणी नहीं निकलती और वाणी से ज्ञान प्रगट नहीं होता; ज्ञान में जैसी योग्यता हो, वैसी वाणी निमित्तरूप होती है– ऐसी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। वहाँ अज्ञानी जीव भ्रम से ऐसा मानता है कि वाणी के कारण ज्ञान होता है; इससे वह वाणी का आश्रय नहीं छोड़ता और स्वभाव का आश्रय नहीं करता, इसलिए उसे सम्यग्ज्ञान नहीं होता। ऐसे जीव को वाणी से ज्ञन का पृथक्त्व बतलाते हैं। ज्ञान चेतन है और वाणी जड़ का परिणमन है।

आस्तिक और नास्तिक का स्वरूप

प्रश्न :– आस्तिक का अर्थ क्या?

उत्तर :– जो इस आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व का स्वीकार यथार्थस्वरूप से करते हैं, उन्हें आस्तिक कहते हैं।

प्रश्न :– नास्तिक का अर्थ क्या?

उत्तर :– जो आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व को यथार्थ स्वरूप से न मानें, अगर तो विपरीत मानें, वे नास्तिक हैं।

प्रश्न :– जैनमत आस्तिक है या नास्तिक?

उत्तर :– जैनमत आस्तिक है।

प्रश्न :– क्या जैनमत ईश्वर का होना मानता है।

उत्तर :– हाँ, जैनमत में ही ईश्वर का अस्तित्व यथार्थरूप से माना गया है।

प्रश्न :– ईश्वर को जैनमत में किस प्रकार माना जाता है?

उत्तर :– जिन आत्माओं ने अपनी शक्ति को सम्पूर्ण विकास किया है और राग-द्वेष को सम्पूर्ण दूर किया है, वे आत्मा ईश्वर हैं; उन्हें भगवान, जिनदेव, परमात्मा, सिद्ध, अरहन्त, शुद्धात्मा आदि नामों से भी जाना जाता है।

प्रश्न :– वह ईश्वर क्या करते हैं?

उत्तर :– वे अपने ज्ञान से सारे जगत को जानते हैं, और अपने आत्मा के आनन्द को भोगते हैं। वे इस जगत का कुछ नहीं करते; वे तो जगत् के ज्ञाता हैं, किन्तु कर्ता नहीं है।

प्रश्न :– वे इस जगत के कर्ता क्यों नहीं है?

उत्तर :– क्योंकि इस जगत के सभी पदार्थ अपना-अपना कार्य अपने आप करते ही रहते हैं, उन्हें किसी अन्य करनेवाले की आवश्यक्ता ही नहीं हैं, स्वभाव से ही प्रत्येक पदार्थ कार्यवाला है।

पुनःश्च ईश्वर को राग-द्वेष ही नहीं है। राग-द्वेष के बिना कर्तृत्व की वृत्ति होती ही नहीं। 'मैं ऐसा करूँ, वैसा करूँ'–ऐसी वृत्ति जहाँ होती है, वहाँ राग-द्वेष और आकुलता होती है; जहाँ आकुलता होती है, वहाँ दुःख होता है; और जिसके दुःख होता है, वह ईश्वर नहीं हो सकता। ईश्वर

के दुःख और राग-द्वेष नहीं होते।'

यदि ईश्वर कर्ता हो तो इस जगत में किसी जीव को दुःखी किसलिए करे? मारे किसलिए? पाप किसलिए करावे? इसलिए ईश्वर कुछ नहीं करता; किन्तु जीवों के अपनी योग्यानुसार वे अवस्थाएँ स्वतः होती ही रहती हैं। अज्ञान और राग-द्वेष से जीव अपने आप ही दुःखी होते हैं, ईश्वर उन्हें दुःखी नहीं करता। और ज्ञान तथा वीतरागता से जीव अपने आप ही सुखी होता है, ईश्वर कहीं, उन्हें सुख नहीं देता। ईश्वर तो सम्पूर्ण सुखी आत्मा है, वह कृतकृत्य है। उसे कुछ उपाधि नहीं है। पर का कुछ करने की इच्छा तो आकुलत है और आकुलता दुःख है। ईश्वर एक नहीं किन्तु अनन्त हैं।

प्रश्न :– ईश्वर को इस सृष्टि का कर्ता न मानने से तो जैन नास्तिक सिद्ध होंगे?

उत्तर :– कदापि नहीं; ''ईश्वर को सृष्टि का कर्ता मानने से ही आस्तिकता है और कर्ता न मानने से नास्तिकता है''– यह मान्यता सर्वथा भ्रम है। आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व को यथार्थस्वरूप से माननेवाला आस्तिक है। जैनमत में ही आत्मा और परमात्मा का वास्तविक स्वरूप मानने में आया है, इससे जैनमत ही वास्तव में आस्तिक है। और जो आत्मा और परमात्मा (ईश्वर) का स्वरूप यथार्थ रीति से नहीं मानते, वे वास्तव में नास्तिक हैं।

प्रश्न :– इस सृष्टि का कर्ता ईश्वर है – ऐसा माने वह आस्तिक है या नास्तिक?

उत्तर :– प्रथम तो ईश्वर (परमात्मा) के यथार्थस्वरूप को उन्होंने नहीं माना; और दूसरे- जगत में अनन्त जीव और जड़पदार्थ स्वतंत्र स्वयं सिद्ध अनादि-अनन्त हैं, उनका कोई कर्ता नहीं है, वे सब स्वतन्त्र अस्तित्ववाले हैं, तथापि ''ईश्वर ने उन्हें किया है'' ऐसा मानकर उनके स्वतन्त्र अस्तित्व का निषेध किया है, इससे वास्तव में तो वे नास्तिक है। 'ईश्वर' अर्थात् 'परमात्मा' वह सम्पूर्ण सुखी आत्मा (जीव) है। वही आत्मा सम्पूर्ण सुखी होता है, जिसे सम्पूर्ण ज्ञान प्रगट हुआहे। यदि सम्पूर्ण ज्ञान प्रगट न हो –किसी भी अंश तक अज्ञान हो तो वहाँ तक जीव को सम्पूर्ण सुख नहीं होता। ईश्वर को सम्पूर्ण ज्ञान है, इससे वे सम्पूर्ण सुखी हैं; जो सम्पूर्ण सुखी हो, उसे किंचित्मात्र भी दुःख नहीं होता। राग या द्वेष अथवा कुछ नवीन करने की वृत्ति, वह दुःख की निशानी है। ईश्वर को वह राग–द्वेष नहीं होता, इससे ईश्वर सम्पूर्ण सुखी, सम्पूर्ण ज्ञानी और राग–द्वेष रहित हैं। ऐसे स्वरूप से ईश्वर को न मानना, सो नास्तिकता है।

'मुझे ईश्वर ने बनाया है'– ऐसा माननेवाला नास्तिक है। क्योंकि 'ईश्वर ने मुझे बनाया है' इसका अर्थ यह हुआ कि 'पहले मैं नहीं था' अर्थात् पहले मेरी नास्ति थी; इस प्रकार अपने ही

अस्तित्व का अस्वीकार, सो नास्तिकता हैं। इस जगत में जितने पदार्थ हैं, वे सब स्वभाव से ही सत् हैं।

प्रश्न :– ईश्वर तो सम्पूर्ण शुद्ध वीतराग हैं, इससे वे तो पर का कुछ नहीं करते, परन्तु छद्मस्थ रागी जीव तो पर का कुछ करते हैं न?

उत्तर :– रागी जीव भी पर का कुछ नहीं कर सकता। जैसा एक जीव का स्वभाव वैसा ही सभी जीवों का स्वभाव; जैसा ईश्वर का स्वभाव, वैसा ही सभी जीवों का स्वभाव। जैसे ईश्वर पर का कुछ नहीं कर सकता किन्तु मात्र जानता ही है, उसी प्रकार इस विश्व के समस्त जीव पर का कुछ नहीं कर सकते, पर को मात्र जानते ही हैं। जानने के समय जो राग-द्वेषादि करते हैं, वह जीव का दोष है। वास्तव में तो उस राग को भी जानना जीव का स्वभाव है। इस प्रकार ईश्वर के यथार्थ स्वरूप को पहचानकर, ईश्वर की भाँति अपने आत्मा को भी ज्ञानस्वभाव से और पर के अकर्तास्वभाव से जाने तो जीव को स्व–पर का भेदज्ञान हो; और इस भेदज्ञान के बल से राग–द्वेष का सम्पूर्ण नाश करके तथा अपने ज्ञान को पूर्णतया विकसित करके जीव स्वतः ही ईश्वर हो जाये। इस प्रकार ईश्वर की और आत्मा के स्वरूप का यथार्थ आस्तिकता का फल सच्चा ईश्वरत्व है।

जो ईश्वर को पर का कर्ता या रागी मानते हैं, वे अवश्य अपने को भी पर का कर्ता और रागी मानते हैं, इससे वे पर के कर्तृत्व के अहंकार में अटके रहते हैं, और पर के कर्तृत्व के अहंकार से रहित जो अपना ज्ञानस्वभाव है, उसे वे नहीं मानते। ज्ञानस्वभावी आत्मा के अस्तित्व क अस्वीकार, सो परमार्थ से नास्तिकता है।

और, इस जगत की समस्त परवस्तुएँ स्वतन्त्र हैं, सब स्वतः अपने से ही स्वतन्त्ररूप से स्थित रहनेवाली हैं, प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूप के स्वतन्त्र अस्तित्वरूप से स्थित रहकर अपना कार्य स्वतः करता है, तथापि उसके स्वतन्त्र अस्तित्व को न मानना, और ईश्वर उसका कर्ता है,अथवा मैं उसका कर्ता हूँ – ऐसा मानना भी नास्तिकता है।

वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है कि एक वस्तु का दूसरी वस्तु में अकर्तृत्व ही है। वस्तु अपने स्वरूप से अस्तित्वरूप है और अन्य से वह नास्तित्वरूप है। अर्थात् प्रत्येक पदार्थ सम्पूर्णरूप से पृथक्-पृथक् है। ऐसा होने से एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का अकर्ता ही है। जिस प्रकार सर्वज्ञ ईश्वर पर में अकर्ता हैं, वैसे ही जगत के सभी जीव पर में अकर्ता हैं। ऐसा स्वतन्त्रवाद जगत् के पदार्थों में प्रवर्तमान है। विश्व के समस्त पदार्थों में प्रवर्तमान है। विश्व के समस्त पदार्थों के स्वतन्त्र अस्तित्व को जानना ही आस्तिकता है।

प्रश्न :– सब मिलकर एक ही आत्मा है, अर्थात् सभी आत्मा एक ईश्वर के ही अंश हैं– ऐसा मानना आस्तिकता है या नास्तिकता?

उत्तर :– यह मान्यता नास्तिकतारूप है।

प्रश्न :– इसमें आत्मा के अस्तित्व को तो स्वीकार किया है, फिर भी नास्तिक क्यों है?

उत्तर :– वास्तव में उसमें यथार्थस्वरूप से आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया है। इस जगत में अनन्तानन्त आत्मा हैं, और वह प्रत्येक आत्मा स्वतः परिपूर्ण अखण्ड है। ऐसा होनेपर भी, सब मिलकर एक ही आत्मा है – ऐसा जिसने माना है, उसने किसी भी आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया है; अनन्त परिपूर्ण आत्मा हैं, उन्हें नहीं माना है। प्रत्येक आत्मा पूर्ण है, उसे अनन्तवें भाग से माना– इस प्रकार वह नास्तिक ही सिद्ध होता है। इस जगत् में प्रत्येक –प्रत्येक जीव और प्रत्येक–प्रत्येक जड़ वस्तु स्वतन्त्र है, प्रत्येक वस्तु स्वतः से ही परिपूर्ण अस्तित्व रखती है, कोई भी वस्तु किसी अन्य वस्तु के आधार से स्थिर नहीं रहती – ऐसा जानना-मानना ही सच्ची आस्तिकता है। ऐसे आस्तिक को ही धर्म और मुक्ति होती है।

वास्तव में तो, जिसप्रकार अपने परिपूर्ण शुद्धात्मस्वरूप का अस्तित्व है, उसी प्रकार जानकर जो स्वीकार करे, वही सच्चा आस्तिक है। जो भेदज्ञान द्वारा शुद्धात्मा के स्वरूप को नहीं जानता, वह अवश्य ही कहीं अन्यत्र आत्मा का अस्तित्व मानता है। आत्मा के अस्तित्व को न जाने और उसे अन्य प्रकार से माने तो वह भी नास्तिकता है। आत्मा के यथार्थ स्वरूप को सम्यग्दृष्टि ज्ञानी ही जानते हैं, इससे वे ही सच्ची आस्तिक हैं। मिथ्यादृष्टि जीव, आत्मा के स्वरूप को यथार्थ रीति से नहीं जानते, इससे वे परमार्थ से नास्तिक हैं।

इस प्रकार जगत का प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र स्वयं सिद्ध, किसी से भी अनिर्मित और परिपूर्ण हैं; उनमें प्रत्येक स्वतन्त्र है। कोई भी आत्मा अपने स्वरूप की पूर्णता को जानकर चैतन्यशक्ति का विकास करके स्वतः ही ईश्वर हो सकता है –ऐसा जाननेवाला ही आस्तिक है, और दूसरे वास्तव में नास्तिक हैं।

प्रश्न :– यदि ईश्वर इस जगत का कर्ता नहीं है, तो जगत की यह सब व्यवस्था कैसे चलती है?

उत्तर :– इस जगत में जितने पदार्थ हैं, वे स्वतः अपने स्वभाव से ही व्यवस्थितरूप से परिणमन करते हैं; कोई पदार्थ कभी भी अव्यवस्थित परिणमित होता ही नहीं; कोई पदार्थ कभी अपने स्वरूप से च्युत नहीं होता। जैसे गेहूँ को बोने से गेहूँ ही उगते हैं, किन्तु गेहूँ में से बाजरा

नहीं उगता, उसी प्रकार जीव सदैव जीवरूप रहकर ही परिणमन करता है, किन्तु वह परिणमित होकर जड़ नहीं हो जाता। पदार्थ स्वतः अपने स्वभाव से अपने मूलस्वरूप में स्थित रहते हैं। वैसे ही जड़ पदार्थ परिवर्तित होकर कभी जीवरूप नहीं हो जाते। जीव कभी अपना जीवत्व नहीं छोड़ता और जड़ कभी अपनी जड़ता नहीं छोड़ता।

समस्त पदार्थों में उत्पाद्व्ययध्रुवत्व नाम की शक्ति है, इससे सभी पदार्थ अपने स्वभाव से ही नवीन-नवीन अवस्थारूप उत्पन्न होते हैं; पुरानी-पुरानी अवस्थाओं का नाश होता है और पदार्थ अपने मूलस्वरूप से सदा स्थित रहता है। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ में व्यवस्थित परिवर्तन (उत्पाद-व्यय) होता ही रहता है; कोई ईश्वर उस परिवर्तन का कर्ता नहीं है, किन्तु पदार्थ अपने स्वभाव से ही वैसे हैं। उत्पादस्वभाव वस्तु में कुछ न कुछ नवीन कार्य की उत्पत्ति करता है; व्यय-स्वभाव वस्तु के पुराने कार्य का नाश करता है और ध्रुवस्वभाव वस्तु को उसके मूलस्वरूप में सदैव स्थित रखता है। सभी वस्तुओं में स्वभाव से ही इस प्रकार होता रहता है। वस्तुस्वभाव स्वतः ही अपना ईश्वर है। ऐसे यथार्थ वस्तु स्वभाव को जानकर पर के कर्तृत्व का अभिप्राय छोड़ना और ज्ञातारूप से रहना ही धर्म है। उसी में सुख-शान्ति है, वही परमात्मा होने का उपाय है।

तीर्थंकरों के पथ पर

[गतांक से आगे]

दयादि राग है और हिंसादि द्वेष है; भगवान के राग-द्वेष नहीं होते, वे तो समभावी वीतरागी ज्ञाता हैं, ऐसा ही सभी आत्माओं का स्वरूप है। और ऐसे ही अपने स्वरूप की श्रद्धा, सो सम्यग्दर्शन है।

कोई कहे कि जो इसी समय भगवान हुए हैं, वे अपने से पूर्वकाल में हुए अनन्त सिद्धों – भगवन्तों की भक्ति–वन्दना करते हैं, तो यह बात मिथ्या है। भक्ति तो राग है, दूसरे की वन्दना करने का भाव भी राग है। जिसके राग होता है, वह भगवान होता ही नहीं। राग, आत्मा का स्वरूप नहीं है। जो सिद्ध भगवान के पास रहा है, वह इस आत्मा का स्वरूप है और जिसे भगवान ने हटा दिया है, वह कहीं इस आत्मा का स्वरूप नहीं है।

भगवान सर्वप्रकार से स्पष्ट पूर्ण हो गये हैं। उनके अब विनय, भक्ति, दया इत्यादि किसी प्रकार का राग नहीं है। इसलिए सम्यग्दर्शन प्राप्त करने और मोह को दूर करने के जिज्ञासु को अपना रागरहित परिपूर्ण स्वरूप मानकर उसरूप स्वतः को मानना – अनुभव करना चाहिए। ऐसा अनुभव करने से उसी क्षण मोह का क्षय हो जायेगा।

जैसा द्रव्य-गुण-पर्यायपना अरिहन्त भगवान के प्रगट हुआ है, वैसा ही अपना स्वरूप है। राग को अपना मानना, अथवा अपने और अरिहन्त के आत्मा के स्वरूप में अन्तर मानना, सो मिथ्यात्व है। अरिहन्त जैसे स्वरूपवाला ही अपना आत्मा है– ऐसा रागरहित अनुभव करना, सो सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन होते ही, सच्ची श्रद्धा का विरोधी दर्शनमोहरूप मिथ्यात्वभाव तो नाश हो गया। अब, सम्यग्दर्शन के पश्चात् जो राग-द्वेष है, वह भी मोह की ही सेना है, वह राग-द्वेष, आत्मा के परम वीतरागी चारित्र का विरोधी है; इससे मोक्षार्थी जीवों को उसका भी नाश करना ही इष्ट है।

समस्त अरहन्तों का मार्ग

सम्यग्दर्शनसहित मुनिदशा में व्यवहाररत्नत्रय के पालने का जो राग है, सो आत्मा के शुद्धोपयोगरूप चारित्र को रोकनेवाला है, इससे उस राग को भी छोड़कर आत्मा की निश्चयरत्नत्रयरूप अनुभूति में लीन होना ही मोक्ष का मार्ग है। समस्त अरिहन्त, तीर्थंकर और जो सिद्ध हुए, वे सभी इस निश्चयरत्नत्रय के मार्ग से ही मोक्ष को प्राप्त हुए हैं; किसी भी काल में मोक्ष का कोई अन्य मार्ग

नहीं है। इसप्रकार जानकर और यही विधि करके भगवन्तों ने स्वतः समस्त कर्मों का क्षय करके सम्पूर्ण शुद्धता प्राप्त की है और समवशरण में अनन्त तीर्थंकरों ने दिव्यध्वनि में इसी मार्ग का उपदेश दिया है। अहो! ऐसा एक ही प्रकार का मोक्षमार्ग दर्शानेवाले भगवन्तों को नमस्कार हो।

८० और ८१ वीं गाथा में कहे अनुसार सम्यग्दर्शन प्राप्त करके, वीतरागचारित्र के विरोधी राग-द्वेष को दूर करना अर्थात् निश्चयरत्नत्रयात्मक शुद्धात्मानुभूति में लीन होना ही एक मोक्षमार्ग है। त्रिकाल में मोक्ष का कोई अन्य मार्ग नही है। समस्त अरिहन्त भगवान इसी मार्ग से मोक्ष को प्राप्त हुए हैं और मुमुक्षुओं को भी इसी मार्ग का उपदेश दिया है। उन भगवन्तों को नमस्कार हो।

भगवन्तों को नमस्कार हो

आचार्यदेव कहते हैं कि अहो! जिन्होंने मुझे ऐसा स्वभाव समझाया, उन भगवन्तों को नमस्कार हो। भगवन्त स्वतः स्वाश्रित शुद्धोपयोग के बल से मोह का नाश करके, जगत को भी ऐसा ही उपदेश देकर सिद्ध हुए हैं; उन्हें नमस्कार हो! आचार्यदेव स्वतः छद्मस्थ हैं, इससे विकल्प है; भगवान को नमस्कार करते हुए विकल्प का निषेध करते हैं और पूर्ण शुद्धोपयोग का आदर करते हैं। जितना शुद्धोपयोग प्रगट हुआ है, उतना निश्चय है और जो विकल्प प्रवर्तमान है, वह व्यवहार है। उस व्यवहार का निषेध है और शुद्धता का आदर है– इस प्रकार आचार्यदेव के निश्चय-व्यवहार की संधि है। वर्तमान में जो विकल्प है, उसका आदर नहीं है, किन्तु सर्वज्ञदेव ने जो स्वभाव बताया है, उसी का आदर है। विकल्प के कारण ऐसा कहा है कि भगवन्तों को नमस्कार हो! अर्थात् वास्तव में तो जिस प्रकार भगवान स्वाश्रय करके पूर्ण हुए हैं, उसी प्रकार मैं स्वाश्रय को अङ्गीकार करता हूँ – यही तीर्थंकरों का पंथ है॥८२॥

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने प्रवचनसार की इन तीन गाथाओं में बारह अंगों का सार संक्षेप में रखा है। समस्त तीर्थंकरों ने क्या किया और उपदेश में क्या कहा – वह इनमें बता दिया है। भगवान ने किस विधि से कर्मक्षय किया और किस प्रकार का उपदेश दिया, उसका वर्णन इन गाथाओं में किया है।

जो अरिहन्त को जानता है, उसे भेदज्ञान होता है

जो जीव, द्रव्य-गुण-पर्याय से अरिहन्त के आत्मा को जानता है, वह अपने आत्मा को जानता है, और उसे सम्यग्दर्शन होता है। भगवान ने इसी विधि से मिथ्यात्व क क्षय किया था। द्रव्य अर्थात् गुण-पर्याय का पिण्ड। गुण अर्थात् स्थायी शक्ति और पर्याय अर्थात् स्थायी शक्ति का प्रतिक्षण होनेवाला परिणमन। अरिहन्त के प्रथम और पश्चात् रहनेवाला एकरूप आत्मतत्त्व, सो

द्रव्य है; चैतन्यत्व, सो गुण है; और केवलज्ञान, सो पर्याय है। भगवान के सुख-वीर्य इत्यादि की पूर्णता प्रगट हो गई है और राग-द्वेष-मोह का सर्वथा नाश हुआ है। इस प्रकार जिसने अरिहन्त के द्रव्य -गुण-पर्याय का निर्णय अपने ज्ञान में किया, उसे आत्मस्वभाव और विकार के बीच भेदज्ञान हुआ है; वह अपने आत्मा को विकाररहित परिपूर्ण स्वरूप से पहचान लेता है और उसका अज्ञान नष्ट हो जाता है।

पूर्ण स्वभाव का आश्रय ही पूर्णता का उपाय है

अहो! मेरा आत्मा अरिहन्त जितना ही है – ऐसा निर्णय करने पर, जीव स्वाश्रय करता है, स्वाश्रय में मोह नहीं रह सकता। मैं परिपूर्ण द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूपी हूँ, निमित्त से पृथक हूँ, पुण्य-पाप से पृथक हूँ, अपूर्ण अवस्था मेरा स्वरूप नहीं है, और जिस ज्ञान में मैंने अरिहन्त का निर्णय किया है, उस ज्ञान जितना ही मेरा स्वरूप नहीं है। द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद से रहित एकरूप परिपूर्ण स्वरूप हूँ। वर्तमान अपूर्णदशा होने पर भी शक्तिरूप से पूर्णदशा होने योग्य हूँ – ऐसा निर्णय करने से किसी निमित्त में, पुण्य-पाप में अथवा अपूर्ण दशा में एकत्वबुद्धि नहीं रहती। पर्याय का आश्रय छूटकर द्रव्यस्वभाव का आश्रय होता है; स्वभाव के आश्रय से पर्याय परिणमित होते-होते पूर्णता होती है और मोह नष्ट होता है। यह उपाय तीर्थंरों ने किया है।

स्वाश्रय से केवलज्ञान की ओर परिणमन

इसमें क्या करना आया? अपना स्वरूप द्रव्य से, गुण से और पर्याय से परिपूर्ण है – इसकी प्रतीति होने से किसी भी पर के सम्मुख देखना नहीं रहा अर्थात् पराश्रय ही न रहा। पराश्रय से होनेवाले जो विकारभाव हैं, उनका कर्तृत्व नहीं रहा। पर से और विकार से रहित मात्र स्वाभावाश्रित परिणमन रहा। स्वाभावाश्रित परिणमन होने से अल्पकाल में मुक्ति होती है। जिसने अपने परिपूर्ण ज्ञान-आनन्दस्वरूप का निर्णय किया है, उसके अपनी पर्याय में भी ज्ञान–आनन्द का अंश प्रगट हुआ है अर्थात् विकार और ज्ञान का भेद-ज्ञान हुआ है। उसके अब पुण्य-पाप का आदर नहीं है। स्वभाव के आश्रय से ज्ञाता– दृष्टापन प्रगट हुआ अर्थात् विकार की ओर का परिणमन दूर हुआ और केवलज्ञान की ओर उन्मुख हुआ। जिस प्रकार अरिहन्तों का केवलज्ञान ज्ञाता ही है, वैसे ही मैं भी ज्ञाता ही हूँ – ऐसे ज्ञातास्वभाव सम्यक् निर्णय के बल से जीव केवलज्ञान की ओर ही परिणमित होता है, उसका मोह विलीन हो जाता है और उसे क्षायिक जैसा अप्रतिहत सम्यग्दर्शन होता है। धर्म इसी प्रकार होता है।

स्वभाव का आश्रय ही मोक्ष का मार्ग

अरिहन्त का निर्णय करनेवाला कौन है? निर्णय कहाँ करता है? किससे करता है? आत्मा

अपने ज्ञान की वर्तमान अवस्था में परावलम्बनरहित ज्ञान से ही निर्णय करता है। किसी शुभराग में या निमित्त में निर्णय नहीं होता किन्तु राग और निमित्त की अपेक्षारहित ज्ञान में ही निर्णय होता है। अपनी जिस पर्याय में निर्णय किया, उसे स्वभावसन्मुख करने से क्षायिक जैसा सम्यग्दर्शन होता है। पहले अपूर्ण दशा में से पूर्ण दशा प्रगट करने के लिए पराश्रय लेता था, जिससे मोह बना रहता था, परन्तु अब केवलज्ञानी की पहचान करके स्वभावोन्मुख हुआ, वहाँ किसी पराश्रय की मान्यता नहीं रही; मात्र अपने द्रव्य को परिपूर्ण रूप से प्रतीति में स्वीकृत किया अर्थात् मोह का क्षय हुआ और सम्यग्दर्शन प्रगट हो गया। अब जो राग-द्वेष रहा, उसका स्वरूप में स्वीकार नहीं है, इससे स्वरूप की एकाग्रता से शुद्धोपयोग प्रगट करने से उस राग-द्वेष का भी क्षय ही हो जायेगा। इस प्रकार स्वभाव का आश्रय ही मोक्ष का मार्ग है – ऐसा अरिहन्तों ने दर्शाया है।

ज्ञातृत्व का निर्णय

केवली भगवान एकसमय में त्रिकाल और त्रिलोक को जानते हैं, जिसने केवली भगवान के ज्ञान का निर्णय किया, उसने त्रिकाल और त्रिलोक के पदार्थों का भी निर्णय कर लिया है। समस्त पदार्थों में जिस समय जैसी क्रमबद्ध अवस्था प्रगट होना है, वैसी उसी समय प्रगट होती है, उस समय अनुकूल निमित्त की उपस्थिति (सद्भाव) भले हो किन्तु अपने स्वतन्त्र उपादान से ही प्रत्येक वस्तु अपनी पर्यायरूप परिणमित होती है। पहले-पश्चात् या उल्टी-सीधी कोई अवस्था नहीं होती; ऐसी निर्णय करने से समस्त पदार्थों का कर्तृत्व दूर हो गया और अपनी निर्मलदशा के लिए किसी पर के सन्मुख देखना नहीं रहा। पर के ऊपर की दृष्टि और पर्याय की दृष्टि छोड़कर, अखण्ड एकरूप ज्ञायक-स्वभाव की दृष्टि किये बिना ऐसे ज्ञातृत्व का निर्णय नहीं हो सकता। ऐसा सबके ज्ञातृत्व का निर्णय, सो सम्पूर्ण ज्ञान प्रगट करने का उपाय है। सर्वज्ञ भगवान की दिव्यवाणी चैतन्य को जागृत करके, स्वाश्रय में युक्त करके केवलज्ञान प्राप्त करानेवाली है। जो केवलज्ञान का निर्णय करे, उसे अपने ज्ञातृत्व का निर्णय हो जाता है। जिसने ज्ञातृत्व का निर्णय किया, वह विकार का कर्ता नहीं होता, वह ज्ञातारूप से स्वाश्रय में स्थिर होकर विकार का क्षय करता है और पूर्णदशा को प्राप्त करता है। यही निर्वाण का उपाय जिनदेव ने कहा है। वस्तु में जैसा होता है – होना है, वह केवलज्ञान में ज्ञात होता है, वैसा ही वस्तु में होता है। जिस प्रकार केवलज्ञानी वीतरागरूप से सबके ज्ञाता ही हैं, वैसे ही मेरा स्वभाव भी ज्ञाता ही है, जो विकार होता है, वह मेरा स्वभाव नहीं है – ऐसा निर्णय करने से, पर का मैं कुछ करूँ – ऐसा मिथ्याभिमान दूर हो गया अर्थात् पर से और विकार से पृथक् शुद्ध ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख हुआ। यही मिथ्यात्व को दूर करने का उपाय है।

सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् तीर्थंकरों का पथ

इसप्रकार मिथ्यात्वमोह को दूर करके और सम्यक् आत्मस्वरूप को प्राप्त करने के पश्चात् भी, राग-द्वेष को दूर करके केवलज्ञान प्रगट करने के लिए स्वरूप की सावधानी रखना चाहिए। सम्यग्दर्शन होने से राग-द्वेषरहित शुद्धात्मस्वरूप का निर्णय तो हुआ है, परन्तु जब तक स्वरूप की सावधानी द्वारा सर्वथा राग-द्वेष को न हटा दे, तब तक केवलज्ञान नहीं होता। सम्यग्दर्शन में जिस शुद्धात्मस्वरूप की प्राप्ति हुई, उस स्वरूप में सावधानी से (अर्थात् शुद्धोपयोग से) क्रमशः स्थिरता करके अपनी उग्र शक्ति से केवलज्ञान प्राप्त करता है।

सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के बाद क्रिया कैसी होती है? उसे बतलाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि सम्यग्दर्शन द्वारा शुद्धात्मस्वरूप को प्राप्त करने के पश्चात् भी स्वाश्रय के पुरुषार्थ द्वारा ज्ञान की अन्तरस्थिरतारूप क्रिया द्वारा यदि जीव राग-द्वेष का नाश करता है, तो वह जीव सम्पूर्ण शुद्धदशा को प्राप्त करके मुक्त होता है। जिस जीव को राग-द्वेषरहित शुद्धात्मा की श्रद्धा नहीं हुई है, वह जीव, राग-द्वेष का नाश नहीं कर सकता। जिस जीव को प्रथम तो राग-द्वेषरहित सम्यक् आत्मतत्त्व की श्रद्धा हुई है, वह जीव उस आत्मतत्त्व के आश्रय से यदि राग-द्वेष का परिहार कर देता है, तो केवलज्ञान प्राप्त करता है। क्षायिक सम्यग्दर्शनसहित क्षपकश्रेणी की बात आचार्यदेव बतलाते हैं। सम्यग्दर्शन के पश्चात् ''जो राग-द्वेष परिहरे तो पामतो शुद्धात्मने'' अर्थात् उपयोग को शुद्धात्मा में स्थिर करे तो राग-द्वेष का परिहार होकर केवलज्ञान प्रगट हो। और यदि सम्पूर्ण राग-द्वेष न छोड़ सके तो, सम्यग्दर्शन को अच्छिन्नधारारूप स्थिर रखकर एकभव स्वर्ग में जाकर पश्चात् मोक्ष प्राप्त करता है– ऐसे उग्र पुरुषार्थ की बाता है। तीर्थंकरों के पंथ में पुरुषार्थहीनता की बात को अवकाश ही नहीं है। तीर्थंकरों का पंथ तो स्वाधीन पुरुषार्थ का है। जो जीव स्वाधीन पुरुषार्थ का स्वीकार करता है, वही जीव तीर्थंकरों के पथ पर है; उस पुरुषार्थ से विमुख जीव, तीर्थंकरों के पथ पर नहीं है।

तीर्थंकरों के पथ पर विचरेंगे!

आचार्य प्रभु कहते हैं कि –स्वाश्रय के पुरुषार्थ द्वारा मोह का क्षय करके जो केवलज्ञान को प्राप्त हुए और जगत् के जीवों को इसी स्वाश्रय मार्ग का उपदेश देकर जो सिद्ध हुए– ऐसे भगवन्तों को मैं नमस्कार करता हूँ। हे नाथ! मैं आपको नमस्कार करता हूँ! जिस मार्ग से आप निवृत्त हुए हैं, उसी मार्ग पर मैं चला आ रहा हूँ। हे पूर्ण पुरुषार्थ के स्वामी! आपके दिव्य उपदेश की बलिहारी है, आपका उपदेश जीवों को पराश्रय से छुड़ाकर मोक्षमार्ग में लगानेवाला है। आपके

चरणकमलों में मैं नमस्कार करता हूँ। कैसे नमस्कार करता हूँ? आपके उपदेश को प्राप्त करके, आपके द्वारा उपदेशित स्वाश्रित विधि को अंगीकार करके मैं आपके पथ पर चला आ रहा हूँ। यहाँ पर एक ही विधि द्वारा मोक्ष का उपाय बताया है, अन्य कोई मोक्ष का उपाय है ही नहीं। मूढ़ अज्ञानी लोग तो ऐसी मान्यता को ऐकान्तिक मान्यता कहते हैं, क्योंकि उन्हें स्वाश्रयमार्ग का भान नहीं है। ज्ञानी तो कहते हैं कि ऐसे स्वाश्रयमार्ग की यथार्थ मान्यता सो क्षायिक जैसे अप्रतिहत सम्यग्दर्शन है। अहो नाथ! जिसस उपाय से आपने द्रव्य-गुण-पर्याय को पहचानकर क्रमबद्ध आत्म-पर्याय को जानकर अभेदस्वरूप की प्रतीति और स्थिरता करके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मलदशा प्रगट की और अरिहन्तदशा को प्राप्त हुए तथा जगत को वही उपदेश देकर सिद्धदशा प्राप्त की – उसी प्रकार हम भी आपका स्वाश्रय का उपदेश सुनकर, इसी प्रकार स्वाश्रय द्वारा सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र प्रगट करके मुक्त होंगे। इसके लिए हे प्रभो! आपको नमस्कार हो!

किस जीव का ज्ञान अरिहन्त को स्वीकार करता है?

जिसे विकार की रुचि हो, वह जीव विकाररहित ऐसे अरिहन्त का निर्णय नहीं कर सकता। अरिहन्त परिपूर्ण ज्ञानस्वरूप हैं और विकार का अंशमात्र भी उनके नहीं है, ऐसा जो ज्ञान स्वीकार करता है, वह ज्ञान, विकार की ओर से पीछे हटकर विकाररहित स्वभाव की ओर उन्मुख हुआ है। अरिहन्तों की भाँति मेरे आत्मस्वभाव में भव नहीं हैं– विकार नहीं है। मैं अपने इसी स्वभाव के बल से रागादि का नाश करके एकाध भव में संसार का अन्त कर देनेवाला हूँ। इस प्रकार जिसने अरिहन्त भगवान का निर्णय किया है, उसने अपने एकावतारीपने का निर्णय किया है। यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि अरिहन्त भगवान इसी विधि के द्वारा पूर्णदशा को प्राप्त हुए हैं, हम भी इसी विधि से पूर्णदशा को प्राप्त कर रहे हैं और तुम भी इसी विधि को जानने में पूर्णदशा प्राप्त करेंगे। इस विधि में कभी भी परिवर्तन नहीं होना है।

भगवान के समस्त उपदेशों का सार

'आत्मा ज्ञानस्वभावी है, ऐसा स्वभाव के आश्रय से ज्ञाता-दृष्टा रहकर जाना'– यह जिनेन्द्रदेव के सर्व उपदेशों का मूलसार है। भगवान कहते हैं कि हमने ज्ञानस्वभाव के आश्रय से केवलज्ञान प्राप्त किया है, किसी रागादि के आश्रय से केवलज्ञान नहीं हुआ है। तू भी यदि अपने स्वभाव के आश्रय से ज्ञाता रहे तो तुझे केवलज्ञान प्राप्त हो जाये। जो विधि हमारी है, वही विधि तेरी है; जो मार्ग हमारा है, वही तेरा भी है। तू भी यदि ऐसा ही जानने और स्वाश्रय करे तो केवली हो जायेगा।

सभी जीवों के लिए एक ही मार्ग

''उपदेश पण अेम ज कर्यो'' अर्थात् भगवान ने स्वतः जैसा किया, वही कहा है। सभी जीवों को एक ही मार्ग है। भगवान ने स्वतः दूसरा मार्ग ग्रहण किया और अन्य जीवों को दूसरा मार्ग बताया, यह बाता बिल्कुल मिथ्या है। अथवा तो भगवान ने भविष्य के मन्द पुरुषार्थी जीवों के लिए दूसरा मार्ग – सरल मार्ग बताया है – ऐसा नहीं है। उसी प्रकार किसी को ज्ञानमार्ग, किसी को क्रियामार्ग, किसी को भक्तिमार्ग, किसी को सेवामार्ग – ऐसे भिन्न-भिन्न प्रकार के जीवों को भिन्न-भिन्न मार्गों का उपदेश भी भगवान ने नहीं दिया है। भगवान ने सर्व जीवों के लिए एक स्वाश्रितमार्ग का ही उपदेश दिया है। स्वाश्रय ही एक मोक्षमार्ग है। प्रथम श्रद्धा में स्वाश्रय और फिर स्थिरता में स्वाश्रय होता है। पराश्रय बंधमार्ग ही है और स्वाश्रय ही मोक्षमार्ग है। 'एक ही मार्ग है'– यही सम्यक् एकान्त है। एक ही मार्ग है – इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है, इसका नाम अनेकान्त है। किन्तु स्वाश्रय से भी मोक्ष होता है और पराश्रय–व्यवहार से भी होता है, ऐसा मानना, सो मिथ्यात्व-एकान्त हैं।

भगवान कहते हैं कि – जैसे भगवान हम हैं, वैसा ही भगवान तू भी है। केवलज्ञानी होने के लिए तुझे वही उपाय करना चाहिए, जो हमने किया है। जब अपने ज्ञान में राग को, वैसे ही रागरहित आत्म-स्वभाव को जानकर, श्रद्धा में रागरहित स्वभाव को स्वीकार किया, तब स्वभाव की प्राप्ति हुई, श्रद्धा में रागरहित हो गया, स्वाश्रयभाव प्रगट हुआ। इतने महान (भगवान जितने) रागरहित परिपूर्ण स्वभाव को जिसने अपने ज्ञान में निर्णय किया, उसने एकमात्र आत्मा के आश्रय का स्वीकार किया और समस्त परद्रव्य एवं परभावों के आश्रय की मान्यता छोड़ दी। उसके अनन्त-पुरुषार्थ प्रगट हुआ है और वह जीव तीर्थंकरों के पथ पर चलने लगा है।

इस समय भी तीर्थंकरों के पथ पर विचर सकते हैं!

समस्त जीवों के लिए यह एक ही (उपरोक्त) मुक्तिमार्ग है। पंचमकाल के जीवों के लिए यह एक ही उपाय है। कोई कहे कि 'इसकाल में तो भरतक्षेत्र में कोई तीर्थंकर नहीं विचर रहे हैं, तो फिर तीर्थंकरों के पथ पर केसे चला जा सकता है?' उससे आचार्यदेव कहते हैं कि भाई! तीर्थंकरों ने स्वाश्रय का उपदेश किया था; इस काल भी स्वाश्रय हो सकता है। तीर्थंकर कहीं यह नहीं कहते थे कि तू 'हमारा आश्रय कर।' तीर्थंकर तो ऐसा कहते थे कि तू अपने स्वभाव का निर्णय करके अपना ही आश्रय कर। इस समय भी स्वभाव का निर्णय करके – स्वाश्रयभाव प्रगट करके तीर्थंकरों के पथ पर विचरा जा सकता है। पंचमकाल के आचार्यदेव पंचमकाल के जीवों

को ही उपदेश करते हैं कि हे जीवो! जैसा अनन्त केवलियों का आत्मा है, वैसा ही तुम्हारा आत्मा है; जैसा अनन्त केवलियों ने अपने आत्मा का निर्णय किया और स्वाश्रय प्रगट करके मुक्ति प्राप्त की है, उसी प्रकार तुम भी अपने स्वभाव का वैसा ही निर्णय वर्तमान में प्रगट करो! और स्वाश्रय का पुरुषार्थ करो! यह शास्त्र पंचमकाल के जीवों को ही लक्ष्य में लेकर रचा गया है।

निश्चय का आश्रय करो, व्यवहार का आश्रय छोड़ो!

हे जीवों! तुम एक स्वभाव के आश्रय को ही मोक्ष की विधि जानो! बीच में अन्य पराश्रितभाव आयें, उन्हें मोक्ष की विधिरूप नहीं किन्तु बंधनरूप जानो। तीर्थंकरों ने यही विधि की है और जगत के जीवों को इसी विधि का उपदेश किया है, तुम भी इसी विधि को अंगीकार करो। यही विधि अर्थात् निश्चयस्वभाव का आश्रय करो और दूसरी विधि अर्थात् व्यवहार भावों का आश्रय छोड़ो! देव-गुरु-शास्त्र इत्यादि के निमित्त का लक्ष्य बीच में आये तो उसका आश्रय न करो! प्रथम चैतन्यस्वरूप के आश्रय का निर्णय करके सर्व व्यवहार का निषेध करो, और पश्चात् उसी स्वरूप के आश्रय से सम्पूर्ण शुद्धोपयोग प्रगट करके तीर्थंकर भगवन्तों की भाँति सम्पूर्ण ज्ञाता-दृष्टा बनो!

श्री तीर्थंकर भगवन्तों को नमस्कार!

तीर्थंकरों के स्वाश्रित पंथ को नमस्कार!

तीर्थंकरों का पंथ दर्शानवाले संतो को नमस्कार!

निर्वाण और परिभ्रमण

जो जीव सम्यग्दर्शनयुक्त है, उसे अवश्य ही निर्वाण का संगम होता है और मिथ्यादृष्टि जीव के सदैव संसार में परिभ्रमण होता है।

[सारसमुच्चय-४१]

जीव का कर्तव्य

जीव के राग का कार्य पर में नहीं होता। स्त्री, पुत्रादि जब मृत्युशय्या पर पड़े हों तब, वे बच जायें, तो अच्छा ही, इस प्रकार स्वतः तीव्र राग करता है, तथापि वे मर जाते हैं। अपने राग के कारण उसमें कुछ नहीं होता। स्वतः तो पर से भिन्न है। स्वयं अपने में राग कर सकता हूँ, परन्तु पर में कुछ नहीं कर सकता – ऐसा यदि यथार्थरूप से समझले तो पर से पराङ्मुख होकर अपने ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख हो और राग का भी कर्ता न हो। हे भाई ! तुझे प्रत्यक्ष दिखायी देता है कि तेरा राग, पर में कुछ भी नहीं कर सकता। जिस प्रकार पर के लिए तेरा राग व्यर्थ है, उसी प्रकार वह राग स्वतः आत्मा को भी कुछ लाभ नहीं करता। यदि स्त्री-पुत्र-शरीरादि पदार्थ तेरे हों, तो उन पर तेरा अधिकार क्यों नहीं चलता? वे पदार्थ तेरी इच्छानुसार ही क्यों परिणमित नहीं होते? इसलिए तू अपने ज्ञान में ऐसा निर्णय कर कि मेरा ज्ञानस्वरूप समस्त पदार्थों से पृथक् है; पर पदार्थों की ओर उन्मुखता से राग की उत्पत्ति होती है, उससे भी पृथक् है और परोन्मुख होकर जो ज्ञान, राग में अटक जाता है, उससे भी मेरा ज्ञानस्वरूप पृथक् है – ऐसा जानकर अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा की ओर उन्मुख हो, उसी का अभ्यास कर, रुचि कर मंथन कर, श्रद्धा कर और उसी का अनुभव कर। निरन्तर वही एक करने योग्य है।

[भेदविज्ञानसार]

अवश्य पढ़िये!

पूज्य श्री कानजीस्वामी द्वारा भगवत् श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत ग्रन्थों पर,
एवं अन्य अध्यात्मग्रन्थों पर किये गये विस्तृत विवेचन :-

समयसार-प्रवचन (प्रथम भाग)

निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक यथार्थ मोक्षमार्ग की प्ररूपणा, पृष्ठ ४८८, पक्की जिल्द मूल्य छह रुपये, डाकव्यय दस आने अतिरिक्त।

मुक्ति का मार्ग

अरिहन्तदेव का स्वरूप और सर्वज्ञसिद्धि पर युक्तिपूर्ण विवेचन ग्रन्थ। मूल्य दस आने, डाकव्यय माफ।

मूल में भूल

उपादान-निमित्त संवाद को लेकर अद्भुत विवेचनपूर्ण ग्रन्थ। मूल्य बारह आने, डाकव्यय माफ।

आत्मधर्म की फाइलें

प्रथम वर्ष-पृष्ठ १८८, प्रवचन २००। द्वितीय वर्ष पृष्ठ २१६, प्रवचन १०८। तृतीय वर्ष पृष्ठ २५०, प्रवचन १२५। प्रत्येक वर्ष की सजिल्द फाइल का मूल्य पौने चार रुपये।

आत्मधर्म (मासिकपत्र)

अध्यात्मिक प्रवचनों का अपूर्व संग्रह जो आपके हाथ में है। वार्षिक मूल्य तीन रुपये।

—: मिलने का पता :—

१- श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर,
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

२- अनेकान्त मुद्रणालय,
मोटा आंकड़िया (सौराष्ट्र)

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचन्द रवाणी, शिष्टसाहित्य मुद्राणालय मोटा आंकड़िया-सौराष्ट्र
प्रकाशक : जमनादास माणेकचन्द रवाणी, अनेकान्त मुद्राणालय मोटा आंकड़िया-सौराष्ट्र